पौरपाट (परवार) अन्वय–१

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री
रुड़की

१. जैन जातियों का प्रारम्भिक काल

भारतवर्ष अगणित जातियों का देश है। जिन धर्मों के अनुयायियों ने जातिप्रथा को स्वीकार नहीं किया, उनकी संख्या की दृष्टि से वृद्धि हुई है, यह प्रत्यक्ष है। वस्तुतः जातिप्रथा वैदिक धर्म की देन है। वही एक ऐसा धर्म है जो 'जन्मना' जातिप्रथा को मानता है। जैनधर्म में उसकी नकल हुई है। यद्यपि इस धर्म में आचार की दृष्टि से भेद किया जाता है, पर उसका स्थान जन्मना जातिप्रथा ने ले लिया है।

ऐसा लगता है कि इस प्रथा ने महावीर के काल में भी समाज में अपना स्थान बना लिया था। यद्यपि मूल पुराणों पर दृष्टिपात करने से इसका आभास नहीं होता कि महावीर-काल में जैन समाज में जातिप्रथा चालू हो गई थी, पर उनमें वंशों और कुलों के नाम आये हैं। अपेक्षा विशेष के कारण धर्मग्रन्थों में भी कुलों और गणों के नाम मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महावीर का जन्म 'ज्ञातृक' वंश में हुआ था, इसने ही वर्तमान में 'जथरिया' नाम से एक प्रचलित जाति का रूप ले लिया है। यद्यपि जैन पुराणों में प्रचलित जातियों का उल्लेख कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता, पर उसका कारण अन्य है। अभी तक आगमों में जितने भी उल्लेख मिलते हैं, उनके अनुसार पूरा जैन संघ चार भागों में विभक्त था—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका।

जैन परम्परा के अनुसार, इस अवसर्पिणी युग में समवशरण की व्यवस्था इतिहासातीत काल से ही चली आ रही है। इसमें मनुष्य, देव और तिर्यंचों को धर्मसभा में बैठने के लिये बारह कक्षों की रचना होती थी। उसमें सभी प्रकार की स्त्रियों के बैठने के लिये अलग-अलग कक्षों की रचना के बावजूद भी सभी प्रकार के मनुष्यों के लिये एक ही कक्ष निश्चित रहता था। इस आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में तीर्थंकर महावीर के बाद ही जातिप्रथा को स्थान मिल सका है। इसके पूर्व वर्तमान जातियों में से कुछ रही भी हों, तो भी समाज में धार्मिक दृष्टि से उनका कोई स्थान नहीं था।

इस परम्परा में जातिप्रथा के प्रारम्भ के ज्ञान के लिये हमें धार्मिक दृष्टि से लिखे गये पुराणों के अतिरिक्त अन्य जैन साहित्य पर भी दृष्टिपात करना होगा। इस दृष्टि से, सबसे पहले हमारी दृष्टि सम्यक् दर्शन के पच्चीस दोषों पर जाती है। इनमें समाहित आठ मदों में कुल और जाति मद के नाम हैं। मूल परम्परा के सभी ग्रन्थों में इनका निषेध पाया जाता है। रत्नकरंड श्रावकाचार लगभग प्रथम शताब्दि की रचना है। इसके आठ मदों में समाहित कुल-जाति मदों के निरूपण से विदित होता है कि जैनों में जाति-प्रथा इस काल से पहले हो प्रविष्ट हो चुकी थी। कुल-परम्परा तो पुराण काल में भी प्रचलित थी, इसलिये उसका निषेध तो समझ में आता है पर जातिप्रथा पुराण काल में नहीं थी। इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस शब्द का अर्थ ब्राह्मणादि जातियों से रहा होगा। मनुस्मृति आदि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म में जिन वर्णों को कर्म से स्वीकार किया गया है, उन्हें ही ब्राह्मण धर्म में जाति शब्द से स्वीकार किया गया है। फलस्वरूप जातिनाम और उच्च-नीच का व्यवहार लोक में चालू हो गया। जैनधर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी इससे अछूता नहीं रह सका। इसीलिये समन्तभद्र ने कुलमद के साथ जातिमद का भी निषेध किया है। मूलाचार के पिंडशुद्धि अधिकार में वर्णित आहार सम्बन्धी आजीवनामक दोष के समाहरण से भी इसकी पुष्टि होती है।

मूलाचार और रत्नकरण्ड श्रावकाचार—दोनों ही ईसा की प्रथम सदी या इससे पूर्व लिखे जा चुके थे। इससे लगता है कि इस काल में किसी न किसी रूप में जातिप्रथा चालू होकर प्रदेशभेद और आचारभेद से प्रचलित हो चुकी थी। तिर्यंच योनि के हाथी, घोड़ा, गौ आदि वर्गों के समान मनुष्य भी अनेक वर्गों में विभक्त किये गये। एक-एक वर्ण के अन्तर्गत दृश्यमान अनेक जातियाँ और उपजातियाँ इसी व्यवस्था का परिणाम है। यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त ग्रन्थों में उल्लिखित जातियाँ वर्तमान में एक-एक वर्ण के भीतर प्रचलित अनेक जातियाँ न होकर उन वर्णों को ही जाति शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। इसलिये वर्तमान में प्रचलित अनेक जातियों को तत्तत् कुलगत ही मानना चाहिये। परन्तु अनेक इतिहासज्ञों का मत है कि वर्तमान में प्रचलित जातियों की पूर्वावधि अधिक-से-अधिक सातवीं-आठवीं सदी हो सकती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन इनमें मुख्य हैं। अगरचन्द नाहटा और चिन्तामणि विनायक वैद्य का भी यही मत है। उनके अनुसार, ईसा की सातवीं-आठवीं (विक्रम की आठवीं) सदी तक ब्राह्मण और क्षत्रियों के समान सारे भारत में वैश्यों की एक ही जाति थी। सत्यकेतु विद्यालंकार ने भी भारतीय इतिहास में आठवीं सदी को महत्वपूर्ण परिवर्तन की सदी माना है। इस काल में पुराने मौर्य, पांचाल, अन्धकवृष्णि, भोज आदि राजकुलों का लोप हो गया और चौहान, राठौर, परमार आदि नये राजकुलों की शक्ति प्रकट हुई। पूर्णचन्द्र नाहर ने भी ओसवाल जाति की स्थापना के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है।

इस प्रकार जातिप्रथा के प्रचलित होने के विषय में विभिन्न विद्वानों के लगभग एक ही प्रकार के मत अवश्य हैं, किन्तु ७–८वीं सदी के पूर्व वर्ण ही जाति शब्दवाच्य रहे हों, ऐसा एकान्त से तो नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि ब्राह्मणों ने अपने वर्ण की उत्कृष्टता मानने के लिए पाणिनि-काल में ही उसे कर्मणा न मानकर जन्मना मानना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार वर्णों के स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग होने लगा था। इतना ही नहीं, ८–९वीं सदी के पूर्व प्रदेशभेद और आचरणभेद भी इन भेदों का कारण रहा हो, यह सम्भव है। जितने ही हम पूर्वकाल की ओर जाते हैं, उतना ही उनमें प्रदेश व आचरण से भेद होता हुआ दीखता है। अग्रवाल ने बताया है कि भिन्न-भिन्न देशों में बस जाने के कारण ब्राह्मणों के अलग-अलग कामों की प्रथा चल पड़ी थी। इसी प्रकार क्षत्रियों के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है कि पहले जनपदों के नाम उनमें बसने वाले क्षत्रियों के आधार पर रखे गये, जैसे पञ्चाल। बाद में जब जनपद नाम की प्रधानता हुई, तब जनपरिषद् लोकप्रसिद्ध हुए।

पाणिनि व्याकरण में गृहस्थ के लिये 'गृहपति' शब्द है। मौर्य-शुंग युग में 'गृहपति' समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिए प्रयुक्त होता था। इन्हीं में गहोई वैश्य प्रसिद्ध हुए।

पतंजलि के अनुसार चाण्डाल आदि निम्न शूद्र जातियाँ प्रायः ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य बस्तियों में घर बनाकर रहती थीं। पर जहाँ ग्राम-नगर बहुत बड़े थे, वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लों में रहने लगे थे। समाज में सबसे नीची कोटि के शूद्र थे। बढ़ई, लुहार, बुनकर, धोबी, अयस्कार, तन्तुवाय आदि की गणना शूद्रों में थी पर ये यज्ञ सम्बन्धी कुछ कार्यों में सम्मिलित हो सकते थे। लेकिन इनके साथ खाने-पीने के बर्तनों की खुआछूत बरती जाती थी। इनसे भी ऊँची जाति के शूद्र वे थे जो निमन्त्रण होने पर आर्यों के बर्तनों में ही खाते-पीते थे।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीर के काल में या उसके कुछ काल बाद आजीविका के आधार पर भी जातियाँ बनने लगी थीं। तत्वार्थसूत्र में परिग्रहपरिमाण के प्रसंग से कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि कर्म के आधार पर विभक्त यह मानव समाज उस युग में नीच-ऊँच के गर्त्त में फँसकर कई भागों में बँट गया था। इस व्रत के अतीचारों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दासी-दास प्रमाणातिक्रम भी है जिससे स्पष्ट है कि उस युग में दास प्रथा थी और व्रती श्रावक को इसकी मर्यादा करना आवश्यक था। कौटिल्य ने भी दासप्रथा का उल्लेख कर उससे छूटने के उपाय का भी निर्देश किया है—छुटकारे के रूप में नकद रुपया देना। अनेक प्रकरणों से पता चलता है कि जैन श्रावक इस प्रथा को बन्द करने में सहायक होते रहे हैं। दो हजार वर्ष पूर्व के भारत की इस साधारण झाँकी से स्पष्ट है कि जातिप्रथा की नीव ७–८वीं सदी के पूर्व ही पड़ गई थी।

जातिप्रथा विरोधी जैनधर्म अपने को इस बुराई से न बचा सका, इसके कारण हैं। यह स्पष्ट है कि महावीर काल के बाद धीरे-धीरे वैदिक धर्म का प्रभुत्व बढ़ने लगा था और जैनधर्म का प्रभाव घटने लगा था। इसके दो कारण मुख्य हैं—(१) जैनधर्म के प्रचारकों और उपदेशकों का अभाव। पहले ज्ञानी-ध्यानी मुनिजन गाँव-गाँव विचर कर धर्म का सन्देश जन-जन को देते थे। पर कालदोष एवं त्यागवृत्ति की हीनता से उनका अभाव हो गया था। गृहस्थ उनकी त्यागवृत्ति के भार को ठीक से सम्हाल नहीं पाये। समाज की धारणा दूसरी, उपदेशों की दूसरी। इसका मेल न बैठने से जैनधर्मियों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई। (२) समाज द्वारा प्रदत्त आजीविका के समुचित साधनों के बल पर ब्राह्मण पण्डित गाँव-गाँव बस कर वैदिक धर्म की प्रभावना में लगे रहे। इस धर्म ने समाज से आजीविका लेना धर्म का ही अंग बना दिया। इन दोनों कारणों से जैनाचार्यों को जातिप्रथा का समाहरण करने के लिये बाध्य होना पड़ा। सोमदेव के निम्न श्लोक से यही पुष्ट होता है :

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥

इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म में जातिप्रथा को लौकिक विधि के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः इसमें इस प्रथा को स्वीकार करने का कोई अन्य कारण स्पष्ट नहीं है। यह अध्यात्मप्रवण धर्म होते हुए भी इसमें आचार की मुख्यता है। इस प्रथा को स्वीकार कर लेने का ही यह फल है कि हमें बाह्य में और उसके साथ अभ्यन्तर में धर्म की छाया मिली हुई है। कहने के लिये तो इस समय जैनों में ८४ जातियाँ हैं, पर मेरी राय में कतिपय जातियाँ तो नामशेष हो गई हैं और कतिपय ऐसी भी हैं जो दो हजार वर्ष पूर्व भी अस्तित्व में आ चुकी थीं। इस दृष्टि से हम यहाँ पौरपाट अन्वय पर विचार करेंगे क्योंकि एक तो यह पूरा अन्वय दिगम्बर है और दूसरे यह मूलसंघ कुन्दकुन्द आम्नाय को छोड़कर अन्य किसी भी आम्नाय को जीवन में स्वीकार नहीं करता। इसीलिये इस अन्वय का सांगोपांग अनुसन्धान आवश्यक प्रतीत होता है।

२. पौरपाट अन्वय : संगठन के मूल आधार

अनुसन्धानों से पता चलता है कि इस अन्वय के संगठन के निम्न तीन मुख्य आधार हैं : (i) पुराने जैन (ii) प्राग्वाट अन्वय और (ii) परवार अन्वय

(i) पुराने जैन

वर्तमान में जो 'परवार अन्वय' कहा जाता है, उसका पुराना नाम 'पौरपाट या पौरपट्ट' या जो बदलते 'परवार' क्यों कहलाने लगा, इसका ऊहापोह स्वतन्त्र लेख का विषय है। मुख्य प्रश्न यह है कि यदि यह अन्वय महावीर काल में भी पाया जाता था, तो इसका उल्लेख पुराणों में अवश्य होता। यह तर्क उचित नहीं लगता कि जातिमद निषेध के कारण इसका नामोल्लेख नहीं है क्योंकि यह तर्क वर्णों, वंशों व कुलों पर भी लागू होता है। इससे केवल यही अर्थ स्पष्ट होता है कि ये अन्वय महावीर काल में नहीं रहे। यह मानी हुई बात है कि महावीर काल के चतुर्विध संघ में विभक्त तो जैन थे, उन्हीं में से विशिष्ट प्रदेशों में रहने के कारण इस या अन्य अन्वयों का संगठन हुआ होगा।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

इस अन्वय के पुरुषों के मूलसंघी होने के कारण श्वेतपट-संघ में न जाकर मूलसंघ में ही रहना स्वीकार किया होगा एवं यह प्रारम्भ से ही मूलसंघ को स्वीकार करनेवाला बना रहा। फिर भी, उत्तरकाल में इसने कुन्दकुन्दाम्नाय को ही क्यों स्वीकार किया, इसका अनूठा इतिहास है। यह भी एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। फिर भी, यहाँ इतना जानना पर्याप्त है कि कुन्दकुन्द दक्षिण प्रदेश के सपूत होकर भी उन्होंने उसी परम्परा का पुरस्कार किया जो भ० महावीर के काल से निरपवाद रूप से चली आ रही थी और जिसको केवल पौरपाट ने ही स्वीकार किया। वह अन्य परम्परा के व्यामोह में नहीं पड़ा। इस परम्परा के नामकरण में "पौर" शब्द के साथ 'वाट', 'वाड' शब्द न लगाकर 'पाट' या 'पट्ट' शब्द लगा हुआ है, उसका भी यही कारण प्रतीत होता है। इसका ऊहापोह आगे किया जायगा।

पूर्वोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस काल में जितने भी अन्वय उपलब्ध होते हैं, वे केवल नवदीक्षित जैनों के आधार से ही नहीं, अपितु उनके निर्माण में पुराने जैनों के आचार-विचार के साथ उनका भी सम्मिलित होना प्रमुख है। उससे प्रभावित होकर ही कुछ अजैन परिवारों ने पुराने जैनों से मिलकर एक-एक नये संगठन का निर्माण किया होगा। आचार भेद एवं प्रदेश भेद तो कारण रहे ही होंगे।

(ii) प्राग्वाट अन्वय

तथ्यों के आधार पर यह निर्णीत होता है कि पौरपाट अन्वय के संगठन का एक मूल आधार प्राग्वाट अन्वय है। बड़ोह (मध्य प्रदेश) में प्राप्त जीर्णशीर्ण वनमन्दिर इसका साक्ष्य है। इस वनमन्दिर के समान ही बुन्देलखण्ड के जंगलों अगणित जैन मंदिर एवं तीर्थंकर मूर्तियां मिलती हैं। ये पुराने जैनों के जीवन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये सब जैन आचार-विचार की पुरानी संस्कृति के प्रतीक हैं।

यह वन मंदिर अनेक मंदिरों का समूह है और इसका पूरा निर्माण अनेक वर्षों में हुआ है। ये मंदिर भट्टारक काल की याद दिलाते हैं। इस मंदिर के गर्भगृहों का निर्माण प्राग्वाट वंश के भाइयों द्वारा कराया गया जैसा कि इस मंदिर के एक गर्भगृह की चौखट पर खूदे लेख से स्पष्ट है :

कारदेव वासल प्रणमति।
श्री देवचंद आचार्य मंत्रवादिन् संवत ११३४॥

यह स्पष्ट है कि वासल गोत्र प्राग्वाट अन्वय की संतान हैं। यह कोरा अनुमान नहीं है क्योंकि अनेक गर्भगृहों के मूर्तिलेख इसके साक्षी हैं। 'भट्टारक संप्रदाय' में पेज १७२ पर अंकित एक अन्य शिलालेख में कहा गया है कि सूरत पट्ट के द्वितीय भट्टारक प्राग्वाट वंश अष्टशाखान्वय में उत्पन्न हुए थे। वे अपने काल के अनेक राजाओं द्वारा पूजित प्रभावशाली विद्वान् थे।

पौरपाट अन्वय के विकास का अनुसन्धान करते समय मैं बुन्देलखण्ड के अनेक गाँवों और नगरों में गया हूँ। मेवाड़ और गुजरात प्रदेश से इस अन्वय का विकास हुआ है, इसलिये इन क्षेत्रों में भी घूमा हूँ। पर मेरे ख्याल में 'प्रान्तिज' को छोड़कर अन्य किसी नगर के जिनमन्दिर अपेक्षाकृत नवीन हैं। 'प्रान्तिज' के जिनमन्दिर में ११३६ ई० (११९३ वि०) में भी एक शिलापट में उत्कीर्ण चौबीसी पाई जाती है। इसे एक बहिन ने स्थापित कराया था। वहाँ ११६२ ई० का एक शिलालेख भी है जिसमें पांच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं। उसके पादपीठ पर एक लेख अंकित है। इसे यद्यपि अच्छी तरह से नहीं पढ़ा जा सका, फिर भी उससे ऐसा लगता है कि यह प्राग्वाट अन्वय के किसी भाई द्वारा स्थापित कराया गया था।

इस तीन प्रमाणों के अतिरिक्त प्राग्वाट वंश से ही पौरपाट अन्वय का विकास हुआ है, इस विषय के अन्य शिलालेखी पोषक प्रमाण यहाँ दिये जा रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) मिति अषाढ शुक्ल १० वि० चौसखा पोरवाड़ जात्युत्पन्न श्री जिनचंद्र हुए। इनका गृहस्थावस्था काल २४ वर्ष ९ माह, दीक्षाकाल ३२ वर्ष ३ माह, पट्टस्थ काल ८ वर्ष ९ माह एवं विरह दिन ३ रहे। पूर्णायु ६५ वर्ष ९ माह ९ दिन। इनका पट्टस्थक्रम ४ है।

(२) मिति आश्विन शुक्ला १० वि० ७६५ में पोरवाल द्विसखा जात्युत्पन्न श्री अनंतवीर्य मुनि हुए। इनका गृहस्थकाल ११ वर्ष, दीक्षाकाल १३ वर्ष, पट्टस्थकाल १९ वर्ष ९ माह २५ दिन एवं विरहकाल १० दिन रहा। इनकी पूर्णायु ४३ वर्ष १० माह ५ दिन की थी। इनके पट्टस्थ होने का क्रम ३१ है।

(३) मिति आषाढ शुक्ल १४ वि० १२५६ में अठसखा पोरवाल जात्युत्पन्न श्री अकलंकचंद्र मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्थाकाल १४ वर्ष, दीक्षाकाल ३३ वर्ष, पट्टस्थकाल ५ वर्ष ३ माह २४ दिन, अंतरालकाल ७ दिन रहा। इनकी पूर्णायु ४८ वर्ष ४ माह १ दिन की थी। इनके पट्टस्थ होने का क्रम ७३ है।

(४) मिति आश्विन शुक्ला ३ वि० १२६५ में अठसखा पोरवाल जात्युत्पन्न श्री अभयकीर्ति मुनि हुए। इनका गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष २ माह, दीक्षाकाल ३० वर्ष, पट्टस्थकाल ४ माह १० दिन और अंतरालकाल ७ दिन का रहा। इनकी संपूर्ण आयु ४१ वर्ष ११ माह १० दिन की थी। इनका पट्टस्थ-क्रमांक ७८ है।

ये दिगंबर जैन समाज, सीकर द्वारा १९७४–७५ में प्रकाशित चारित्रसार के अन्त में प्राचीन शास्त्रभंडार से प्राप्त एक पट्टावली के उपरोक्त कतिपय शिलालेख हैं। इनसे ज्ञात होता है कि पौरपाट अन्वय का भी विकास पुराने जैनों के समान प्राग्वाट अन्वय से भी हुआ। पोरवाड़ या पुरवार भी वहीं हैं। फिर भी, श्री दौलत सिंह लोढा और श्री अगरचंद्र नाहटा इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। लोढा जी ने 'प्राग्वाट इतिहास, प्रथम भाग' के पृष्ठ ५४ पर बताया है :

"इस जाति के कुछ प्राचीन शिलालेखों से सिद्ध होता है कि परवार शब्द 'पौरपाट' या पौरपट्ट' का अपभ्रंश रूप है। 'परवार', 'पोरवाल', 'पुरवाल' शब्दों में वर्णों की समानता देखकर बिना ऐतिहासिक एवं प्रमाणित आधारों के उनको एक जातिवाचक कह देना निरी भूल है। कुछ विद्वान् 'परवार' और 'पौरवाल' जाति को एक मानते है, परंतु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। पूर्व में लिखी गई शाखाओं के वर्णनों में एक दूसरे की उत्पत्ति, कुल, गोत्र, जन्म-स्थान, जनश्रुति एवं दन्तकथाओं में अतिशय क्षमता है, वैसी परवारजाति के इतिहास में उपलब्ध नहीं है। यह जाति समूची दिगंबर जैन है। यह निश्चित है कि परवार जाति के गोत्र ब्राह्मणजातीय हैं। इससे यह सिद्ध है कि यह जाति ब्राह्मणजाति से जैन बनी है। प्राग्वाट, पौरवाल, पौरवाड़ कही जाने वाली जाति इससे सर्वथा भिन्न है एवं स्वतंत्र है। इसका उत्पत्तिस्थान राजस्थान भी नहीं है।"

ये लोढाजी के स्वतंत्र विचार हैं। संभवतः उन्हें मालूम नहीं कि जो दिगंबर जैन परिस्थितिवश गुजरात और मेवाड़ के कुछ भागों में बच गये थे, वे अन्त में श्वेतांबरों में मिल गये। विक्रम की १४-१५ वीं सदी तक तो उनका बुंदेलखंड में आकर बसने वाले दिगंबर जैनों के साथ संपर्क बना रहा, परंतु भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के बुंदेलखंड में आ जाने के बाद धीरे-धीरे उनका संपर्क शेष सजातीय जैनों से छूटता गया। यह हमारी कल्पना मात्र नहीं है। श्वेतांबर विद्वान् अपने तद्-युगीन साहित्य में यह स्वीकार करते हैं। मुनि जिनविजय ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' की प्रस्तावना में अन्य ग्रन्थ का उल्लेख देते हुए बताया है कि श्रीपुरपत्तन में कुमुदचंद्र आचार्य को शास्त्रार्थ में हराकर वहाँ दिगंबरों का प्रवेश ही निषिद्ध कर दिया था (११४७ ई०)। गलोढा जी ने स्वयं लिखा है कि कर्नाटकवासी वादी कुमदचंद को 'देवसूरि' ने वाद में हरा दिया। परास्त होकर भी उन्होंने अपनी कुटिलता नहीं छोड़ी। वे मंत्रादि का प्रयोगकर श्वेतांबर साधुओं को कष्ट पहुँचाने लगे। अंत में उनको शांत न होता हुआ देखकर देवसूरि ने अपनी अद्भुत मंत्रशक्ति का प्रयोग किया। वे तुरंत ठिकाने आ गये और पत्तन छोड़कर अन्यत्र चले गये। उन्होंने एक प्रकरण में इस स्थिति का संकेत भी दिया है कि वहाँ

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

यदि दिगंबराचार्य हारेंगे, तो एक चोर के समान उनका तिरस्कार कर पत्तनपुर से बाहर निकाल दिया जायगा। के० एम० मुंशी ने भी अपने 'गुजरातनो नाथ' में इस प्रकरण का चित्रण किया है। कवि बख्तावरमल के कथन के अनुसार, परवारों के एक भेद-सोरठिया की गति भी संभवतः यही हुई होगी। श्वेतांबरों में भूतकाल की यह प्रकृति अब भी चालू है और यदाकदा उसके विकृत रूप सुनने-पढ़ने को मिल जाते हैं।

इस समय बुंदेलखंड में जो पौरपाट (परवार) अन्वय के कुटुंब रह रहे हैं, उनका मूल निवास स्थान गुजरात और मेवाड़ का प्राग्वाट प्रदेश ही है। इसमें कोई संदेह नहीं। वहाँ से उनके स्थानांतरित होने का मूल कारण उनकी आजीविका नहीं है, अपितु श्वेतांबर समाज और उनके साधुओं का धार्मिक उन्माद ही है। इसके कारण अपने आम्नाय की की रक्षा के लिये इन्हें उस स्थान को छोड़कर चंदेरी और उसके आस-पास के क्षेत्र में बसने के लिये बाध्य होना पड़ा।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पौरपाट (परवार) अन्वय में भ० महावीर के काल में पाये जाने वाले पुराने जैनों को लीन करके इस अन्वय को मूर्तरूप दिया गया था, उसी प्रकार उत्तरकाल में प्राग्वाट अन्वय को लेकर भी इस अन्वय का संगठन हुआ है।

इसके अतिरिक्त, अनेक तथ्यों से ज्ञात होता है कि इस अन्वय के निर्माण में मुख्यतः परमार वंश का भी बड़ा योगदान है। यदि यह कहा जाय कि प्राग्वाट अन्वय का विकास भी परमार वंश से ही हुआ है, तो भी कोई आपत्ति नहीं। प्राग्वाट इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि इसका संगठन परमार क्षत्रियों के अनेक उपभेदों को लेकर हुआ था। अनेक क्षत्रिय एवं ब्राह्मण कुलों में से उन्हें प्राग्वाट अन्वय में दीक्षित किया गया है। इसलिये यहाँ यह विचारणीय हो जाता है कि ये क्षत्रिय कुल पहले किस अन्वय को मानने वाले थे। प्रमाणों के प्रकाश में विचार करने पर ऐसा लगता है कि वे परमार अन्वय के क्षत्रिय होने चाहिये। इसकी पुष्टि अनेक पट्टावलियों से भी होती है।

'गुजरातनो नाथ' में कीर्तिदेव नामक युवक का जिक्र आया है। यह पाटन महामात्य 'मुंजाल प्राग्वाट' का पुत्र था। इसे उसके मामा सज्जन मेहता ने उसकी रक्षा के अभिप्राय से उन दिनों यात्रा पर आये हुए अवंती के सेनापति 'उबक परमार' को सौंप दिया था। इस घटना से प्राग्वाट अन्वय के विकास में परमारों के योगदान का पता लगता है।

स्व० पं० झम्मनलाल जी तर्कतीर्थ ने 'लमेचू दि० जैन समाज का इतिहास' के पृष्ठ ३८ पर सूरीपुर (उ० प्र०) से प्राप्त पट्टावली के आधार से लिखा है :

"प्रमार (परमार) वंश में राजा विक्रम हुए। उनका संवत् चालू है। उनके नाती (पोता) गुप्तिगुप्त मुनि थे। जिन्होंने सहस्र परवार थापे। गुप्तिगुप्त परमार जाति क्षत्रिय वंश में विक्रम संवत् २६ में हुए हैं। यह चन्द्रगुप्त राजा का वंश होता है—वह भी यदुवंश ही है।"

पूर्व उल्लिखित चारित्रसार के परिशिष्ट में नागौर के शास्त्रभंडार से प्राप्त एक पट्टावली मुद्रित है। इसमें पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त के विषय में लिखा है—श्री मिती फाल्गुन शुक्ल १४ विक्रम संवत् २६, जाति राजपूत पंवारोत्पन्न श्री गुप्तिगुप्त हुए। इनका गृहस्थावस्थाकाल २२ वर्ष, दीक्षाकाल २४ वर्ष, पट्टस्थकाल ९ वर्ष ६ माह २५ दिन एवं विरह काल ५ दिन रहा। इनकी सपूर्ण आयु ६५ वर्ष ७ दिन की थी।

डा० हरीन्द्रभूषणजी के विशेष अनुरोध पर पं० मूलचंद्र शास्त्री उज्जैन ने मुझे एक पट्टावली भेजी थी। उसमें मुनिजन और भट्टारकों की दिगंबर पट्टावली है। उसमें सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वितीय (ब्राह्मण) का विशेष परिचय देने के बाद क्रमांक २ पर पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त की जाति परवार कहते हुए उपरोक्त नागौरी पट्टावली के अनुसार ही परिचय दिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त पट्टावलियों में से पहली और दूसरी पट्टावली में गुप्तिगुप्त को प्रमार या पंवार स्वीकार किया है। पहली पट्टावली में उनके द्वारा 'परवार अन्वय' में एक हजार घर दीक्षित करने की बात कही गई है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने स्वयं 'परवार' अन्वय में दीक्षित होने के बाद मुनि अवस्था में अन्य कुटुंबों के श्रावक कुलों को इस अन्वय में दीक्षित किया होगा। इस घटना से ऐसा लगता है कि अधिकतर ये कुटुंब परमार क्षत्रिय हो होने चाहिये क्योंकि इनके गुरु परमार वंश के ही थे। यद्यपि प्राग्वाट इतिहास का बारीकी से अध्ययन करने पर यही सिद्ध होता है कि प्राग्वाट अन्वय का संघटन अनेक ब्राह्मण कुलों, सोलंकी कुलों, चौहान कुलों, गहलोत कुलों, परमार कुलों और बोहरा कुलों से किया गया है, पर मूल में ये सब क्षत्रिय कुल परमार राजपूत ही थे। उनका अलग-अलग नामकरण बाद में हुआ है।

इस समय परवारों के अनेक कुटुंब 'पांडे' कहलाते हैं। बहुत संभव है कि वे ब्राह्मण कुलों से 'पौरपाट' अन्वय में दीक्षित हुए हों। पट्टधर आचार्यों में भी अनेक आचार्य ब्राह्मण रहे हैं। स्वयं गौतम गणधर भी ब्राह्मण कुल के थे। नागौरी पट्टावली में भद्रबाहु २ को ब्राह्मण कहा ही गया है। इसलिये संभव है कि उनके साथ अनेक ब्राह्मण कुल जैनधर्म में दीक्षित हुए हों।

जबलपुर, म० प्र० से प्रकाशित होने वाले 'परवार बन्धु' मासिक (अब बन्द) के मई-जून, १९४० के अंक में स्व० श्री नाथू राम जी प्रेमी ने परमार क्षत्रियों से परवार जाति के विकास की बात का निषेध करते हुए कहा है कि 'परमार' से 'पंवार' तो ठीक अपभ्रंश है, पर यह 'परवार' नहीं हो सकता। इसलिये 'परवार' शुद्ध शब्द 'पल्लीवाल, ओसवाल, जैसवाल'' जैसा ही है और उसमें नगर एवं स्थान का संकेत सम्मिलित है। यदि प्रेमी जी ने इस तथ्य पर अनुसंधान किया होता कि कई शताब्दियों से प्रचलित 'परवार अन्वय' पहले किस नाम से संबोधित किया जाता था, 'परवार' शब्द किस मूल शब्द का अपभ्रष्ट रूप है, तो शायद उनका यह मंतव्य कुछ भिन्न ही होता।

यह तो हम मानते ही हैं कि इस अन्वय का मूल नाम 'परवार' नहीं था। प्रेमीजी भी यह मानते हैं। उन्होंने अतिशय क्षेत्र पचराई के शांतिनाथ के मन्दिर के १०६५ ई० के शिलालेख देने के बाद 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' अन्वय के तीन लेख और अपने लेख में दिये हैं। अन्त में उन्होंने लिखा है, 'इससे स्पष्ट मालूम होता है कि इन लेखों में 'पौरपट्ट या पौरपाट' शब्द 'परवारों' के लिवे ही आया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने और भी प्रमाण दिये हैं। प्रेमीजी के इन प्रमाणों से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इस अन्वय का मूल नाम 'परवार' न होकर 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' ही था। अतः यह उनकी कल्पना ही है कि परमार क्षत्रिय कुलों से परवार अन्वय का विकास नहीं हुआ। यह सही है कि किसी अन्वय को नया नाम देते समय जैसे ग्राम, नगर आदि का ख्याल रखा जाता है, वैसे ही उस प्रदेश का भी ख्याल रखा होगा जिसमें 'प्राग्वाट' अन्वय का संगठन हुआ था।

'प्राग्वाट इतिहास' के अनुसार, श्रीमालपुर के पूर्ववाट (पूर्वभाग) में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बसते थे, उनमें से ९०,००० स्त्री-पुरुषों ने जैनधर्म की दीक्षा अंगीकार की। वे नगर में पूर्वभाग में रहते थे, अतः उन्हें 'प्राग्वाट' नाम से प्रसिद्ध किया गया। नेमिचन्द्रसूरि कृत महावीर चरित्र की प्रशस्ति में भी इस अन्वय की प्रसिद्धि का यही कारण बताया गया है।

इसके विपर्यास में, श्री गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का मत है कि 'पुर' शब्द से 'पुरवाड' और 'पौरवाड' शब्दों की उत्पत्ति हुई है। 'पुरा शब्द मेवाड़ के 'पुर' जिले का सूचक हैं। मेवाड़ के लिये प्राग्वाट शब्द भी लिखा मिलता है। उनके इस मत से तो ऐसा लगता है कि मेवाड़ में 'पुर' नामक कोई जिला (मंडल) था। इसलिये या तो इस नाम को आधार बनाकर या मेवाड़ के अमुक भाग के 'प्राग्वाट' नाम के आधार पर उस क्षेत्र या प्रदेश में बसने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय कुलों को मिला कर इस पौरवाड़ (प्राग्वाट) अन्वय का संगठन हुआ है। इस अन्वय के दो नाम होने का कारण भी यही प्रतीत होता है।

इस विवेचन से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(i) प्राग्वाट या पौरवाड़ का संगठन जिन ब्राह्मण-क्षत्रियों के कुलों को मिला कर हुआ है, उनमें परमार क्षत्रियों का प्रमुख स्थान था।

(ii) प्राचीन पट्टावलियों में पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त के 'पवार या प्रमार' अन्वय का अर्थ पौरपाट (परवार) अन्वय ही है। उज्जैन से प्राप्त पट्टावली तो उन्हें स्पष्टतः 'परवार' बताती हैं।

(iii) सूरीपुर पट्टावली के अनुसार, इन्हीं पट्टधर आचार्य गुप्तिगुप्त के द्वारा एक हजार परवार कुटुम्बों की स्थापना का उल्लेख यथार्थ है।

कुछ पुरातत्त्वज्ञ इन पट्टावलियों की प्रामाणिकता में शंका करते हैं। यह समीचीन नहीं है। प्राचीन आचार्य वीतराग होते थे, वे अपने कुल और जाति के विषय में मौन रहते थे। प्रयोजनवश ही उन्होंने प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में वर्ण, कुल एवं वंशों का उल्लेख किया है। जब श्वेताम्बरों ने अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता के लिए इन अन्वयों के प्रति पक्षपाती रुख अपनाया, तब भट्टारकों ने भी पुरानी अनुभूतियों के आधार पर पट्टावलियों का संकलन प्रारम्भ किया। इनमें उल्लिखित जातियों का मूल ये अनुश्रुतियाँ ही हैं। इन्हें अप्रामाणिक मानना भूल होगी। पूर्व-उद्धरित नागौर पट्टावली में पट्टधर गुप्तिगुप्त के अतिरिक्त क्रमांक ४, ३३, ७३ व ७८ पर पौरवाड़ जातीय चार पट्टधरों का विवरण दिया है। यही हमारे गौरवपूर्ण इतिहास के स्रोत हैं। न तो सीकर और न नागौर ही बुन्देलखण्ड में है। पूर्व-उल्लिखित पट्टावलियों का संकलन भी बुन्देलखण्ड के भट्टारक या आचार्य ने नहीं किया है। फिर भी, उनमें आचार्यों के जाति एवं अन्वय का उल्लेख है। इसी से इन पट्टावलियों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इन पट्टावलियों का मिलान शुभचन्द १ की गुर्वावली से भी होता है—एकाध क्रम में कुछ अन्तर है।

(iv) पौरपाट या पौरवाड़ अन्वय के श्रावक कुल मूल में बुन्देलखण्ड के निवासी न होकर मेवाड़ और गुजरात से परिस्थितिवश इधर आकर चन्देरी को केन्द्र बनाकर बसते गये। इस अन्वय के श्रावकों का जंगली पहाड़ी या ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं पाये जाने का भी यही कारण है कि वे इस क्षेत्र के मूल निवासी नहीं है।

(v) नन्दिसंघ बलात्कार गण सरस्वती गच्छ की 'महावीर की आचार्य परम्परा' ग्रन्थ में मुद्रित पट्टावली में गुप्तिगुप्त के तीन नाम बताये हैं—अर्हद्बलि, विशाखाचार्य और गुप्तिगुप्त। इन्होंने निम्न चार संघ स्थापित किये :

१. नन्दि संघ	नन्दिवृक्षमूल से वर्षा योग	माघनन्दि
२. वृषभ संघ	तृण तल वर्षा योग	जिनसेन वृषभ
३. सिंह संघ	सिंह गुफा में वर्षा योग	—
४. देव संघ	देवदत्ता वेश्या की नगरी में वर्ण योग	—

नंदिसंघ में ही आचार्य धरसेन का क्रम आता है। वस्तुतः गुप्तिगुप्त ने ही धरसेन और पुष्पदन्त-भूतबलि संयोग कराकर श्रुतरक्षा का आधार बनाया।

३. पौरपाट (परवार) अन्वय के संगठन का स्थान

पूर्वोक्त ऐतिहासिक तथ्य प्रकट करते हैं कि इस अन्वय का संगठन प्रदेश की अपेक्षा 'प्राग्वाट' प्रदेश में तथा नामान्तर 'पौरवाड़ या पौरपाट' को कारण इस प्रदेश के अन्तर्गत पुरमण्डल में हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि प्राग्वाट प्रदेश और उसके पुरमण्डल स्थानों के विषय में ऊहापोह करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्राग्वाट इतिहास' में लोढा ने लिखा है कि वर्तमान सिरोही राज्य, पालनपुर राज्य का उत्तर-पश्चिम भाग, गौड़वाड (गिरिवाड़) तथा मेरपाट प्रदेश का कुम्भलगढ और पुरमण्डल तक का भाग कभी प्राग्वाट प्रदेश के नाम से ख्यात रहा है। यह प्रदेश प्राग्वाट क्यों कहलाया, इस प्रश्न पर आज तक विचार नहीं किया गया। यदि किसी ने विचार किया भी हो, तो वह प्रकाश में नहीं आया। उनके अनुसार, 'उक्त प्राग्वाट प्रदेश अर्बुदांचल का ठीक पूर्वभाग अथवा पूर्ववाट समझना चाहिए। श्रीमालपुर के पूर्वबाट में बसने के कारण जैसे वहाँ के जैन बनने वाले कुल अपने बाट के अध्यक्ष का नेतृत्व स्वीकार करके उनके 'प्राग्वाट' पद नाम के अनुकूल सभी प्राग्वाट कहलाये, इसी दृष्टि से आचार्यश्री ने भी पद्मावती में अर्बल प्रदेश के पूर्ववाट क्षेत्र की जो पाट नगरी थी, उसमें जैन बनने वाले कुलों को भी प्राग्वाट नाम ही दिया है। वैसे अर्थ में भी अन्तर नहीं पड़ता। पूर्ववाड़ का संस्कृत रूप पूर्ववाट है। और पूर्ववाट का' 'प्राच्यां वाटो इति प्राग्वाट' पर्यायवाची शब्द ही तो है। पद्मावती नरेश की अधीश्वरता के कारण तथा पद्मावती में जैन बने बृहत् प्राग्वाट श्रावकवर्ग की प्रभावशीलता के कारण तथा अक्षुण्ण वृद्धिगत प्राग्वाट परम्परा के कारण यह प्रदेश ही पूर्ववाट से प्राग्वाट नामधारी हुआ हो।

उपरोक्त अनुमानों से यह आशय ग्रहण करना समुचित लगता है कि अर्वली पर्वत का पूर्वभाग (जिसे मैंने पूर्ववाट लिखा है) उन वर्षों में अधिक प्रसिद्धि में आया। तब उसका कोई नाम अवश्य ही दिया गया होगा। प्राग्वाट श्रावक वर्ग के पीछे ही उक्त प्रदेश सम्भवतः प्राग्वाट कहलाया हो। यदि यह नहीं भी माना जाय, तो भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्राग्वाट श्रावक वर्ग की उत्पत्ति और मूल विकास के कारणों का तथा धीरे-धीरे उनकी विस्तारित परम्परा की प्रभावशीलता तथा प्रमुखता का इस प्रदेश के प्राग्वाट नामकरण पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। आज भी प्राग्वाट जाति अधिकांशतः इस भाग में बसती है और गुर्जर, सौराष्ट्र, से और मालवा तथा संयुक्त प्रदेश में इसकी जो शाखायें ग्रामों में थोड़े कुछ अन्तर से बसती है, वे इसी भूभाग से गई हुई है। ऐसा वे भी मानतो है।

लोढा ने स्वयं के उपरोक्त विचारों के साथ अपने ग्रन्थ के पादटिप्पण में अन्य पुरातत्त्वविदों के भी निम्न विचार दिये हैं :

(१) वर्तमान में गौड़वाड़, सिरोही राज्य के भाग का नाम कभी प्राग्वाट प्रदेश रहा था। (स्व० अगरचन्द्र नाहटा)।

(२) अर्बुद पर्वत से लेकर गौड़वाड़ तक के लम्बे प्रान्त का नाम पहले प्राग्वाट था (मुनिश्री जिनविजय)।

इससे उनके आश्रय में जाकर मैंने भी उनसे चर्चा की है और उन्होंने मुझसे भी अपना यही मत व्यक्त किया।

इस प्रसंग में हम गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी का मत पहले ही व्यक्त कर चुके हैं। उन्होंने, इसके अतिरिक्त अपने 'राजपूताना का इतिहास–१' ग्रन्थ में लिखा है," करमवेल (जबलपुर के निकट) के एक विशाल लेख में प्रसंगवशात् मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा हंसपाल, वैरिसिंह और विजयसिंह का वर्णन आया है जिसमें उनको प्राग्वाट का राजा कहा है। अतएव प्राग्वाट मेवाड़ का ही नाम होना चाहिये। संस्कृत शिलालेखों तथा पुस्तकों में 'मेवाड़' महाजनों के लिये 'प्राग्वाट' नाम का प्रयोग मिलता है और वे लोग अपना निवास मेवाड़ के 'पुर' नामक कस्बे से बताते हैं। इससे सम्भव है कि प्राग्वाट देश के नाम पर वे अपने को प्राग्वाट वंशी कहते रहे हों।"

"प्राग्वाट इतिहास–१" में श्रीमालपुर में बसनेवाली जातियों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस नगरी में बसनेवाले जो 'धनोत्कटा' थे, वे **धनोत्कटा** श्रावक कहलाये। उनमें जो कम श्रीमन्त थे, वे श्रीमाल श्रावक कहलाये और जो पूर्ववाट में रहते थे, वे **प्राग्वाट** श्रावक कहलाये।

विक्रम १२३६ (११७९ ई०) में नेमिचन्द्र सूरि कृत "महावीर चरित्र' प्रशस्ति में एक श्लोक आया है जिसका निम्न अर्थ है :

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

"पूर्व दिशा के उस भाग में जो प्रथम पुरुष अध्यक्ष के निमित्त बना, उसी नाम (प्राग्वाट) से एक स्थल बनाया गया। उत्तरकाल में उसकी जो सन्तान हुई, वे लक्ष्मीसम्पन्न थीं और वे 'प्राग्वाट' नाम से प्रसिद्ध हुईं।"

'जातिभास्कर' (बेंकटेश्वर प्रिन्टिंग प्रेस, बम्बई) के पृष्ठ २६३ पर लिखा है," पुरावाल गुजरात के पोरवा (पोरबन्दर) के पास होने से ये **पुरावाल** कहकर प्रसिद्ध हुए हैं। इस समय ललितपुर, झाँसी, कानपुर, आगरा, हमीरपुर, बांदा जिलों में इस जाति के बहुत से लोग रहते हैं। वे यज्ञोपवीत धारण नहीं करते। श्रीमाली ब्राह्मण इनका पौरोहित्य करते हैं। अहमदाबाद के विख्यात धनी श्री भागूभाई पुरोवाल वंशोत्पन्न हैं।

डा० विलास ए० संगवे ने अपने पी० एच० डी० शोधप्रबन्ध 'सामाजिक सर्वेक्षण' में किस अन्वय का किस नगर आदि में संगठन हुआ, इसकी सूची दी है। उसमें बताया है कि 'परवार' अन्वय का संगठन **'पारानगर'** में और पौरवार अन्वय का संगठन **पोरवा** नगर में हुआ है।

उपरोक्त दस उद्धरणों में से कई तो प्राग्वाट प्रदेश की सीमा में **पुरमण्डल** को सम्मिलित करते हैं और कई नहीं भी। इसमें एक मत यह भी है कि गुजरात के पोरबन्दर के समीप जो 'पोरवा' गाँव है, उसको माध्यम बनाकर इस अन्वय का गठन हुआ है। अन्तिम मत यह है कि पारानगर में परवार अन्वय का संगठन हुआ। इन चार मतों पर दृष्टि डालने से यह तथ्य फलित होता है कि **प्राग्वाट प्रदेश से लेकर पोरबन्दर तक का प्रदेश इस अन्वय के संगठन का स्थान होना चाहिए।** पोरबन्दर नाम भी समुद्री तट के यातायात के साधनरूप से प्रयुक्त होने के कारण पड़ा प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि प्राग्वाट प्रदेश की मुख्यता होने से सर्वप्रथम इस अन्वय का संगठन 'प्राग्वाट' नाम से ही हुआ होगा। साथ ही, पुरमण्डल में रहने वाले क्षत्रिय कुलों की विशेषता होने से प्राग्वाट अन्वय को **'पौरपाट'** या **'पौरवाड'** नाम से भी सम्बोधित करते होंगे। बाद में प्राग्वाट नाम लुप्त हो गया और **पौरवाड़** नाम प्रसिद्धि में आया होगा।

किन्तु इस अन्वय के संगठन का समय प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु का काल होना चाहिये क्योंकि तबतक संघ भेद न होने से सभी एक ही आम्नाय के मानने वाले होंगे और प्राग्वाट कुलों में कोई भेद नहीं रहा होगा। परन्तु भद्रबाहु के काल में संघभेद हो जाने के कारण जो पुराने आम्नाय के अनुसार चले, वे मूलसंघी कहलाये और जिन्होंने वस्त्र-पात्र को स्वीकार किया, वे श्वेतपट कहलाये। दिगम्बर आम्नाय को माननेवाले ही मूलसंघी हैं।

इस प्रकार प्राग्वाट अन्वय के संगठन का स्थान निर्णीत होने के बाद यह अन्वय दो भागों में कब विभक्त हुआ, इसके कारण का भी पता लग जाता है। यह निश्चित है कि आचार्य भद्रबाहु के काल में ही यह विभक्त हुआ, किन्तु मूलसंघ का सेहरा केवल पौरवाट अन्वय के सिर पर बँधा, यह हम नहीं कह सकते। फिर भी, दूसरे संघ का नाम श्वेतपट संघ हुआ। उत्तराध्ययन में केशी-गौतम सम्वाद की जो कथा आती है, उसका प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि श्वेतपट संघ अपने को पार्श्वनाथ-संतानीय घोषित कर प्राचीन कहे। परन्तु यह श्वेताम्बर शास्त्रों से ही स्पष्ट है कि सभी तीर्थंकर वस्त्रालंकार त्याग मुनिधर्म में दीक्षित हुए। ऐसी स्थिति में अपने अनुयायी शिष्यों को उन्होंने अंशतः वस्त्र रखकर मुनिधर्म में दीक्षित होने की स्वीकृति कैसे दी होगी क्योंकि वस्त्र भी तो राग का प्रतीक है और निर्वाण में बाधक है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मूल श्रीसंघ विभक्त होने के बाद प्राग्वाट अन्वय भी दो भागों में विभक्त हो गया—मूलसंघ तो पूर्ववत् दिगम्बर हो रहा, विभक्त हुए परिवार श्वेतपट कहलाये बहुतों ने कालान्तर में अजैन सम्प्रदाय को भी स्वीकार किया। ऐसे बहुतेरे पौरवाड़ परिवार हैं जिन्होंने जैनधर्म को दूर से ही नमस्कार कर लिया है।

वर्तमान में प्राग्वाट अन्वय के नौ भेद पाये जाते हैं: (१) पौरपाट या पौरपट्ट अन्वय, (२) सौरठिया पौरवाल, (३) कपोला पौरवाल, (४) पद्मावती पौरवाल, (५) गुर्जर पौरवाल, (६) जांगड़ा पौरवाड़, (७) मेवाड़ी और मलकापुरी पौरवाड़, (८) मारवाड़ी पौरवाल और (९) पुरवार। यहां पौरपाट या पौरपट्ट अन्वय मुख्यतः अनुसंधेय है। यह निश्चित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि प्राग्वाट अन्वय ही 'पौरवाड़' अन्वय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे पौरपट्ट या पौरपाट क्यों कहा जाता है। इस प्रश्न का सम्यक् समाधान अपेक्षित है।

प्राग्वाट के स्थान पर पौरवाड़ कहने का तो यह कारण है कि प्राग्वाट प्रदेश के अन्तर्गत 'पुरमण्डल' की मुख्यता से या 'पोरबन्दर' के 'पोरवा' नगर की मुख्यता से इस अन्वय को 'पौर' शब्द से सम्बोधित किया गया है। इस अन्वय के 'पौर' शब्द के साथ 'वाड़' शब्द लगाने के अनेक कारण हो सकते हैं क्योंकि 'वाड़' शब्द का एक अर्थ 'वाट' भी होता है, दूसरे वारी-कांटे आदि से की जाने वाली सुरक्षा-परिधि को भी 'वाड़' कहा जाता है। तीसरा अर्थ परिधि के भीतर का स्थान भी होता है। इनमें से कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। इससे **पौरवाड़** शब्द का स्वयं ही यह अर्थ फलित होता है कि प्राग्वाट प्रदेश के अन्तर्गत 'पुरमण्डल' या 'पोरवा' नगर की सीमा के कारण इस अन्वय को 'पौरवाड़' या 'पौरपाट' कहा गया है।

जो लोग यह मानते हैं कि श्रीमाल के पूर्व में निवास करनेवाले जो कुटुम्ब जैनधर्म में दीक्षित हुए, उन्हें "पौर-वाड़" कहा जाता है, उन्हें ओझाजी ठीक नहीं मानते। इसपर उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रकाश डाला है। इससे हम जानते हैं कि **प्राग्वाट,** पौरवाड़ कैसे हुए ? किन्तु 'परवार' अन्वय को **पौरपाट या पौरपट्ट** कैसे कहा गया, यह विचारणीय है।

४. पौरपाट या पौरपट्ट नामकरण का आधार

यह तो सुनिश्चित है कि व्याकरणानुसार, 'वाड़' शब्द से 'वाट' तो बन जाता है, नरन्तु 'पाट' शब्द की निष्पत्ति संगत नहीं है। इसलिये 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' शब्द दूसरे अर्थ में निष्पन्न होना चाहिये। यह तो हमने कहा ही है कि वर्तमान परवार अन्वय को प्रतिमा लेखों आदि में 'पौरपाट' या 'पौरपट्ट' नाम से उल्लिखित किया गया है। प्रमाणस्वरूप, 'साढोरा' नगर के जिनमन्दिर को एक प्रतिमा (पार्श्वनाथ) के पादपीठ में अंकित किये गये एक लेख को हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं :

संवत् ६१० वर्षे माघ सुदि २२ मूलसंघे पौरपाटान्वये पाटनपुर संघई··· ।

यह मूर्ति इस समय भी साढौरा के मन्दिर में मूलवेदी के बगल के कमरे में एक वेदी पर विराजमान है। पुराने समय में साढौरा नगर दिल्ली से गुजरात और महाराष्ट्र जानेवाले मार्ग पर बसा हुआ है। यह उन दिनों सेनाओं का पड़ाव-स्थल रहता था। यहाँ की टकसाल से 'साढोरा' सिक्का चलाया जाता है। यह सम्भव है कि गुजरात के पाटन से आनेवाले सौदागरों ने इस जिनबिम्ब को लाकर यहाँ विराजमान किया या जाते समय किसी कारण छूट गया हो।

इस अन्वय का दूसरा नाम पौरपट्ट भी रहा है। वस्तुतः **पौरपट्ट** से ही **पौरपाट** निष्पन्न हुआ है। यह व्याकरण सम्मत भी है। यद्यपि इसका पोषक हमें बहुत पुराना लेख तो नहीं मिला है, फिर भी मूर्तिलेखों आदि में ये दोनों शब्द चलते रहे हैं जैसा कि निम्न लेख से स्पष्ट है :

सम्वत् १५१२ चन्देरी मण्डलाचार्यान्वये भ० श्री देवेन्द्र कीर्तिदेवाः त्रिभुवनकीर्तिदेवा पौरपट्टान्वये अष्टासखे···· ।

इन लेखों में परवार अन्वय को या तो 'पौरपाट' कहा गया है या 'पौरपट्ट' कहा गया है। यद्यपि यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि इन दोनों से परवार अन्वय का अर्थ हो कैसे समझा जावे ? इसके समाधानस्वरूप हम यहाँ ऐसा प्रतिमालेख उपस्थित कर रहे हैं जिनसे यह निष्कर्ष समझने में सरलता होगी :

सम्वत् १५०३ वर्षे माघ सुदी ९ बुधौ (धे) मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव शिष्य देवेन्द्रकीर्ति पौरपाट अष्टसखा आम्नाय सं० थणऊ भार्या पु तत्पुत्र सं० कालि भार्या आमिण्डि तत्पुत्र सं० जैसिंध भार्या महीसिरि तत्पुत्र सं०····।

इससे स्पष्ट है कि जिसे हम पहले 'पौरपाट, पौरपट्ट' कह आये हैं, वह परवार को छोड़कर अन्य अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि अठसखा, चौसखा आदि भेद इसी अन्वय में पाये जाते हैं। अब यह विचारणीय है कि इस अन्वय को 'पौरवाड़' या 'पुरवार' न कहकर 'पौरपाट या पौरपट्ट' क्यों कहा गया है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

श्री लोढा जी ने अपने ग्रन्थ में यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'पौरपाट या पौरपट्ट' (परवार) अन्वय को मानने वाले मात्र दिगम्बर जैन ही पाये जाते हैं। इस उल्लेख से यह जान पड़ता है कि इस अन्वय के नामकरण में यह ध्यान रखा गया है कि उससे दिगम्बरत्व की मूलसंघ परम्परा का भी बोध हो !

'पौरपाट या पौरपट्ट' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है : पौर + पाट या पट्ट। **पौर** शब्द **पुर** शब्द से भी बना हो सकता है, **पोरवा** से भी बना हो सकता है तथा **पुरा** शब्द से भी बना हो सकता है। 'पुर' या पोरवा' स्थान विशेष को सूचित करता है और 'पुरा' शब्द प्राचीनता सूचक है। यह अन्वय के संगठन कर्त्ताओं ने इसके नामकरण में इन दोनों ही बातों का ध्यान रखा है। संगवे के उल्लेख से यह तो नहीं मालूम पड़ता कि इस अन्वय का मूल स्थान **पारानगर** कहाँ है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह तो पोरवा नगर है या पुरमण्डल ही है।

यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि बुन्देलखण्ड में बसा हुआ यह अन्वय प्राग्वाट और उससे लगे हुए पोरबन्दर तक के प्रदेश का मूल निवासी है, यह कैसे माना जाय ? इसका एक समाधान तो यही है कि जब अन्वय का मूल स्थान ये ही क्षेत्र है, तो उसके लोग अन्यत्र कहाँ से आ सकते हैं ? दूसरे, भ० देवेन्द्र कीर्ति (जिन्होंने बुन्देलखण्ड में परवार भट्टारक पद स्थापित किया) मूल में गुजरात के निवासी एवं परवार थे। इतना ही उन्होंने स्वयं सूरत के पास गान्धार में मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय का भट्टारकपट्ट स्थापित किया, स्वयं उसके प्रथम भट्टारक बने और वहाँ अपने स्थान पर एक परवार बालक विद्यानन्दि को भट्टारक के रूप में स्थापित कर स्वयं चंदेरी में आकर परवार भट्टारक पट्ट की स्थापना कर स्वयं उसके प्रथम भट्टारक बने।

गुजरात और उसके आस-पास के प्राग्वाट प्रदेश का बुन्देलखण्ड के साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। इसका उदाहरण **बडोह** का जिनमन्दिर है। वहाँ प्राग्वाट अन्वय के अनेक गर्भगृहों में एक वासल्ल गोत्रीय प्राग्वाट-परिवार का भी है। इसके मध्यवर्ती जिनालय में भ० शान्तिनाथ की एक खड्गासन प्रतिमा है। यही एक ऐसा मन्दिर है जो यह प्रख्यापित करता है कि प्राग्वाट अन्वय के श्रावक कुल ही उत्तर काल में 'परवार' नाम से प्रसिद्ध हुए।

सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में हुए श्री जिन तारण-तरण ने १४ ग्रन्थों में से एक 'नाममाला' भी रचा है। इसमें ऐसे पुरुषों के भी नाम आये हैं जो श्री तारण-तरण से सम्पर्क साधकर गुजरात-प्राग्वाट प्रदेश से चलकर बुन्देलखण्ड में आये और अनेक यहीं बस गये। इसी सम्बन्ध में 'जाति भास्कर' का उद्धरण पहले ही दिया जा चुका है। इसी प्रकार, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से १९६२ में प्रकाशित शाह बखतराम की ऐतिहासिक पुस्तक 'बुद्धि-विलास' में पृष्ठ ८६ पर परवार अन्वय को 'पुरवार' लिखा है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि परवार अन्वय के श्रावक कुल पोरबन्दर तक के प्राग्वाट-मेवाड़ प्रदेश के मूलवासी हैं और वे प्राग्वाट या पौरवाड़ ही है। फिर भी, उनको पौरवाड़ या पुरवार न कहकर परवार, पौरपाट, पौरपट्ट के नाम से क्यों अभिहित किया गया ? उसके पीछे कोई हेतु तो होना ही चाहिये। मेरे विचार से इसका कारण सांस्कृतिक ही प्रतीत होता है। श्वेताम्बर साधुओं के राज्याश्रय से श्वेताम्बर श्रावक कुलों का प्रभाव बढ़ने लगा और मूल दिगम्बर श्रावक कुलों का प्रभाव घटने लगा। यहीं नहीं, दिगम्बरों का अपमान भी होने लगा, तब उन्हें विवश होकर अपनी आम्नाय की रक्षा के लिये धीरे-धीरे वहाँ से निकलकर बुन्देलखण्ड में शरण लेने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस स्थिति में जो दिगम्बर कुल गुजरात एवं प्राग्वाट में शेष रह गये होंगे, उन्होंने श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार कर ली होगी। परवार अन्वय की लोक-प्रसिद्ध सात खाँपें हैं, उनमें सोरठिया और जाँगड़ कुलों का यही हाल हुआ होगा, यह निश्चित है। यही कारण है कि इसके नामकरण में प्राग्वाट या पौरवाड़ शब्द का प्रयोग न कर इसे 'पौरपट्ट या पौरपाट' कहा गया है। इन पौरपाटों ने बुन्देलखण्ड में भी अपना आम्नाय सुरक्षित रखा क्योंकि अबतक प्राप्त मेरी जानकारी के प्रतिमा लेखों में कोई भी ऐसा नहीं मिला है जिसमें इस कुल श्रावकों ने मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय के अन्तर्गत बलात्कारगण और सरस्वती गच्छ को छोड़कर अन्य आम्नाय ग्रहण किया हो। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह समूचा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौरपाट अन्वय सदा से अपने संगठन के मूल काल से 'मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय को मानने वाला रहा है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस अन्वय ने ही इस आम्नाय को जीवित रखा है। इसीलिये सात-आठ सौ वर्ष पूर्व के चन्द्र-कीर्ति नामक मुनि या भट्टारक ने मूलसंघ का उपहास किया हैं। ये १२-१३वीं सदी में हुए हैं और सम्भवतः काष्ठासंघी

मूल गया पाताल, मूल न मने न दीसे।
मूलहि सद् व्रत भंग, किम उत्तम होसे॥
मूल पिठां परवार, तेने सब काढी।
श्रावक यतिवर धर्म, तेह किम आवी आढो॥
सकल शास्त्र लिखतां, यह संघ दीसे नहीं।
चन्द्रकीर्ति एवं बदति, मोर पीछ काढे नहीं॥

थे। उसकी समझ से उन्हें मूलसंघ कहीं दिखाई नहीं दिया, वह पाताल में चला गया है। यह उत्तम कैसे हो सकता है जबकि इसमें भी व्रत-क्रिया कहीं भी दिखाई नहीं देती। मूलसंघ की पीठ (आश्रयदाता) परवार अन्वय ही है, उसके द्वारा ही मूलसंघ की यह सब खुराफात चालू की गई है। यह श्रावकधर्म और यतिधर्म के विरोध में खड़ा कैसे हो सकता है।

वस्तुतः यह एक ऐसा उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि परवार अन्वय के लिये जो 'पौरपाट, पौरपट्ट' कहा गया है, वह सार्थक तो है ही, साथ ही ऐतिहासिक भी है। इस नाम से हमारी मूलसंघ की अनुयायिता की विशेषता का भान होता है जो लगभग दो हजार वर्ष पूर्व से चली आ रही है।

५. परवारों के भेद-प्रभेद

कविवर बखतराम कृत 'बुद्धि विलास' में परवारों (पुरवारों) के सात भेद बताये हैं—१. अठसखा, २. चौसखा, ३. सेडसरहा (छैसखा), ४. दो सखा, ५. सोरठिया, ६. गांगड़ और ७. पद्मावती। प्राग्वाट इतिहास की भूमिका में श्री नाहटा ने कुछ काट-छाँट के बाद वैश्यों की चौरासी जातियों का नाम निर्देश करते हुए एक सूची दी है जिसमें परवार अन्वय के गांगड़ को छोड़कर बाकी उपरोक्त छह नाम मिले। उस सूची में एक भेद का नाम **कुंडलपुरी** भी है। यदि इसे 'गांगड़' के स्थान पर परवार अन्वय में गिन लिया जावे, यहाँ भी सात भेद हो जाते हैं। कोल्हापुर के डा० संगवे ने 'जैन सम्प्रदाय—एक सामाजिक सर्वेक्षण' नामक पुस्तक में पी० डी० जैन, प्रो० एच० एच० विल्सन तथा अन्य-कुल मिलाकर परवार के भेदों को चार सूचियाँ प्रस्तुत की हैं। पी० डी० जैन के अनुसार, परवार अन्वय के पाँच भेद हैं—(१) परवार (२) पद्मावती पुरवाल (३) सोरठिया (४) दसहा और (५) माली परवार। प्रो० विल्सन की सूची में परवार, सोरठिया और गंगाडं नामक तीन नाम ही हैं। इसमें एक जाति का नाम 'बहरिया' दिया है। परवार अन्वय के १४४ या १४५ मूलों मे एक मूल का नाम बहुरिया है जो सम्भवतः बहरिया अन्वय के अर्थ में ही आया है, इससे संकेत मिलता है कि बहुतेरे मूल जाति के अर्थ में बदलकर स्वतन्त्र अन्वय (जाति) बन गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

संगवे द्वारा प्रस्तुत गुजरात की सूची में परवार, पुरवार या पोरवाल—किसी भी अन्वय का नाम नहीं है। उसमें एक अन्वय का नाम **तिपौरा** अवश्य है। संभवतः इससे पौरवाढ़, पौरपट्ट और पुरवारों का ग्रहण किया गया है। उनकी दक्षिण प्रदेश की सूची में परवार अन्वय के अर्थ में **'परवाल'** नाम आया है। उसमें अठसखा के स्थान पर **'अस्टवार'** तथा सोरठिया के स्थान पर **सारढिया** नाम पाये जाते हैं। इसमें एक अन्वय का नाम पवारछिया भी आया है।

इन सूचियों पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है कि संकलन करते समय जिन्हें जो नाम उपलब्ध हुए, उन्हें तत्तत् सूची में सम्मिलित कर लिया गया। इन भेदों का विवरण और उनकी वर्तमान स्थिति विचारणीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) **अठसखा परवार :** बुन्देलखण्ड में और अन्य प्रदेशों में इस समय जो परवार अन्वय के श्रावक कुल उपलब्ध हैं, वे सब अठसखा परवार है और मूलसंघ कुंदकुंद आम्नाय के अन्तर्गत सरस्वती गच्छ और बलात्कार गण को मानने वाले हैं।

(ii) **छहसखा परवार :** इन श्रावक कुलों का क्या हुआ, कुछ पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतः उन्हें अठसखा परवारों में विलीन कर लिया गया होगा। हाँ, मुझे यह स्मरण आता है कि अपनी जिनमूर्ति और प्रशस्तिलेख एकत्रण की यात्रा के समय सिरोंज (सरोजपुर) के बड़े मन्दिर में एक मूर्ति ऐसी अवश्य थी जिसकी पादपीठ पर प्रतिष्ठाकारक के नाम के आगे 'छैसखा' पद अंकित था। वर्तमान में परवार अन्वय का यह भेद नाम-शेष मात्र है।

(iii) **चौसखा परवार**—इस समय इनका अस्तित्व अवश्य है पर वे किसी कारण से तारणपंथी हो गये हैं। एक-दो बार उनको मूलधारा में लाने का प्रयत्न अवश्य हुआ है। वे इसके लिये उद्यत भी थे, पर कुछ प्रमुख भाइयों की अदूरदर्शिता के कारण ऐसा न हो सका। इतना अवश्य है कि दोनों ओर से वह कट्टरता अब नहीं देखी जाती। संभव है, कभी इनमें एकरूपता हो जावे। मुझे स्मरण है कि १९२८ में जब मैं बीना की जैन पाठशाला का प्रधान अध्यापक होकर गया था, उस समय वहाँ एक चौसखा परवार कुटुंब रहता था। उस समय एक प्रीतिभोज लेकर उस परिवार को अठसखा परवारों में मिला लिया गया था। इससे मालूम पड़ता है कि परवार समाज के जितने भेद हैं, उनमें एकरूपता होने पर भी परस्पर में बेटी-व्यवहार तो होता ही नहीं था, कच्चा खान-पान भी नहीं होता होगा। इसके फलस्वरूप परवार समाज उत्तरोत्तर क्षीण होता गया और उसके अनेक भेद नाम शेष हो गये।

(iv) **दो सखा परवार :** हमने जितने जिनमंदिरों से मूर्तिलेख एकत्र किये है, उनमें ऐसी एक भी प्रतिमा नहीं मिली जिससे इस उपभेद विषयक जानकारी मिले। हाँ, तारण समाज के संगठन में एक अन्वय का नाम दो सखा भी है। इससे हम जानते हैं कि चौ सखा परवारों के समान इन्हें भी तारण-समाज को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा होगा। यह प्रसन्नता की बात है कि इस समय परवार समाज में चौसखा के समान दो सखा का अस्तित्व तो बना हुआ है।

(v) **गांगड़ परवार :** परवार समाज के १४४-४५ मूलों में एक मूल पद्मावती मूल के समाज का 'गांगरे' मूल भी है। इस मूल का गोत्र गोइल्ल है। ऐसा लगता है कि गांगड़ परवार इसी मूल के होने चाहिये। पहले यह एक स्वतंत्र उपजाति बनी, बाद में समझा-बुझाकर अठसखा परवारों में सम्मिलित कर लिया गया। इसे ही 'गांगड़' मूल दे दिया गया जो सामान्य भाषा में 'गांगरे' हो गया।

(vi) **पद्ममावती परवार**—परवार समाज के मूलों में एक पद्मावती भी है। इसका गोत्र वासल्ल है। पूरे समाज से यह कब अलग पड़ गया, इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस आम्नाय में बीस पन्थ के उपासक भी पाये जाते हैं, इसी कारण सम्भवतः ये मुख्य शाखा से अलग पड़ गये हों। इनमें जैन-अजैन दोनों प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। कहते हैं कि उनमें रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। इस विषय में हमने एक स्वतन्त्र लेख में विचार किया है।

(vii) **सोरठिया परवार**—सोरठिया परवार वे हैं जो मुख्यतः सौराष्ट्र में निवास करते रहे। परन्तु सौराष्ट्र में इस समय जितने भी श्रावक कुल पाये जाते हैं, वे सब प्रायः श्वेताम्बर हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सोरठिया परवारों का श्वेतांबरीकरण हो गया है।

पौरपाट अन्वय के विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अन्य जातियों में कोई उपभेद नहीं देखा जाता, वह स्थिति इस अन्वय की नहीं रही है। इस अन्वय में अनेक उपभेद थे। परन्तु उनमें एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातिपने का व्यवहार पहले कभी नहीं रहा। इससे इस जाति को जो हानि हुई है, उसकी कल्पना करने मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। प्रारम्भ में मुझे यह अनुमान भी न था कि इस अन्वय में अठसखा के अतिरिक्त अन्य और भी भेद होंगे। परन्तु अब उपरोक्त भेदों को ध्यान में देने से यह अवश्य ज्ञात होता है कि मूल पौरपाट अन्वय की अनेक शाखायें और उपशाखायें वटवृक्ष के समान फैली हुई है। अपनी जन्मभूमि गुजरात और मेवाड़ से निकल कर पहले ये अपने आम्नाय की रक्षा हेतु मालवा और चन्देरी (म० प्र०) आये और आज ऐसी स्थिति है कि भारत का ऐसा कोई प्रदेश नहीं जहाँ इस अन्वय में श्रावक कुल नहीं पाये जाते हों। ये आजीविका आदि कारणों से सर्वत्र बसते जा रहे हैं और अब तो विदेशों में भी इस अन्वय के श्रावक कुल पाये जाते हैं और अनेक वहीं के वासी हो गये हैं। वे कहीं भी बसें, अपने आम्नाय को न भूलें, यही हम चाहते हैं।

६. नाम परिवर्तन

इसमें सन्देह नहीं कि इस समय यह बहुत कम लोग जानते हैं कि परवारों का पुराना अन्वयनाम 'पौरपाट या पौरपट्ट' था। इस नाम में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक आधार छिपे हुए हैं। ऐसा लगता है कि हम अपने पुराने इतिहास को भूल गये हैं और अब हम कहीं के नहीं रहे। मेरी सूचना के अनुसार, एक नगर में संचित द्रव्यों से, गंधमाल्यों से जिनबिंब की पूजा होने लगी है, एक अन्य नगर के बड़े मन्दिर की मुख्य वेदी के बगल में एक देवी की स्थापना कर दी गयी है और अनेक श्रावक उनकी पूजा भी करते हैं। ऐसा क्यों हो रहा है ? जिस मूल संघ की रक्षा के लिए हमने गुजरात और मेवाड़ छोड़ा, उस परिवेश को हमने भुला दिया है। मुझे तो लगता है कि ऐसी स्थिति का मूल कारण अपने पुराने सांस्कृतिक नाम को भुला देना ही है।

हमारे समाज का पुराना नाम 'पौरपार, पौरपट्ट' था। उसमें परिवर्तन होकर 'परवार' नाम प्रचलित हो गया है, यह हम भूल गये हैं। मूर्तिलेखों में हम अनेक नामों से अंकित किये गये हैं।

(अ) सोनागिर पहाड़ से उतरते समय अन्तिम द्वार के पास एक कोठे में एक भग्न जिनबिंब है जिसके पादपीठ पर निम्न लेख है :

(संवत् ११०१ वका गोत्रे परवार जातिम)।

इससे मालूम होता है कि 'परवार' नाम बारहवीं सदी में चालू हो गया था। इस लेख में ब का गोत्र कहा गया है। बका मूल का गोत गोहिल्ल है।

(आ) विदिशा (भेलसा, भट्टलपुर) के बड़े मन्दिर से प्राप्त एक जिनबिम्ब के पाठपीठ पर निम्न लेख अंकित है :

'संवत् १५३४ वर्षे चैत्रमासे त्रयोदश्यां गुरुवासरे भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्ति भइलपुरे श्री राजारामराज्ये महाजन परवाल'''श्री जिनचन्द्र।

(इ) एक वर्ष आगरा में शिक्षण शिविर लगा था। उसमें अनेक विद्वानों के साथ मैं भी गया था। उस समय जयपुर से पुराने शास्त्रों की प्रदर्शनी लगाई गई थी। उसमें एक हस्तलिखित 'पुण्यास्रव' शास्त्र भी था। उसके अन्त में निम्न प्रशस्ति अंकित थी :

संवत् १४७३ वर्षे कार्तिक सुदी ५ गुरुदिने श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे नन्दिसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवा स्तच्छिष्य मुनि श्री देवेन्द्रकीर्ति देवाः। तेन निजज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं लिखितं शुभं। श्री मूलसंघे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे श्री भट्टारक ज्ञानभूषण पठनार्थं, नरहड़ी वास्तव्य **परवाडज्ञातीय** सा० काकल, भा० पुण्य श्री, सुत सा० नेमिदास ठाकुर एतैः इदं पुस्तकं दत्तं।

यह एक ऐतिहासिक जिनबिम्ब लेख है। इसमें गांधार और सूरत पट्ट के प्रथम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का नाम आया है। दूसरे, इसमें ईडर पट्ट के भी दो भट्टारकों का उल्लेख किया गया है। इसलिए यह निश्चित है कि **नरहडी** नगर गुजरात में होना चाहिये क्योंकि इस लेख का सम्बन्ध गुजरात प्रदेश से ही है। इस लेख से दो बातें ज्ञात होती हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) जिनबिम्ब के प्रतिष्ठाकार सा० काकल परवार (पौरपाट) जातीय थे।

(ii) इन्हें ठाकुर कहा गया है। इससे यह निश्चित होता है कि इस अन्वय का विकास प्रधानरूप से क्षत्रिय वंशों से हुआ है।

(ई) यह उल्लेख किया जा चुका है कि शाह बखतराम ने अपने 'बुद्धिविलास' में जातियों की सूची में 'परवार' को 'पुरवार' बताया है। इससे पता चलता है कि लेखक की दृष्टि में 'पुरवार' और 'परवार' अन्वय में कोई भेद नहीं था।

(उ) 'परवार बंधु' के मार्च १९४० के अंक में स्व० बाबू ठाकुरदास जी टीकमगढ़ ने कतिपय मूर्तिलेख प्रस्तुत किये हैं, उनमें एक लेख ऐसा भी मुद्रित हुआ है जिसमें इस अन्वय को परपट कहा गया है।

परपटान्वये शुभे साधुनाम्ना महेश्वरः।

यह लेख लगभग ११-१२ वीं सदी का है।

इस प्रकार, प्रतिमा लेखों में इस अन्वय के लिए अनेक नामों का उल्लेख हुआ है। पर उन सबका आशय एकमात्र 'पौरपाट' अन्वय से ही रहा है। यह स्पष्ट है कि इस अन्वय के लिए बारहवीं सदी से 'परवार' नाय का प्रयोग होने लगा था। ●

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. लोढ़ा, दौलत सिंह, प्राग्वाट इतिहास, १-२।
२. वैद्य, चिंतामणि विनायक; मध्ययुगीन भारत।
३. जोहरापुरकर, विद्याधर; **भट्टारक सम्प्रदाय**।
४. नाथूराम प्रेमी; **परवार बंधु**, परवार सभा, जबलपुर, अप्रैल-मई, १९४०।
५. ठाकुर दास जैन; पूर्वोक्त, मार्च, १९४०।
६. — **जातिभास्कर,** वेंकटेश्वर प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई।
७. मुंशी, के० एम; **गुजरातनोनाथ**।
८. ओझा, गौरीशंकर होराचन्द्र; **राजपूताना का इतिहास—**।
९. शास्त्री, नेमचन्द्र; **महावीर और उनकी आचार्य परम्परा,** दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४।
१०. समंतभद्र, स्वामो; **रत्नकरंड श्रावकाचार**।
११. वट्टकेर, आचार्य; **मूलाचार,** भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९८४।
१२. विद्यालंकार सत्यकेतु; **अग्रवाल जाति का इतिहास**।
१३. आचार्य, सोमदेव; **उपासकाध्ययन,** भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
१४. मुनि जिनविजय; **कुमारपाल प्रतिबोध**।
१५. नेमिचंद्र, सूरि; **महावीर चरित्र**।
१६. — **चरित्रसार,** दि० जैन समाज, सीकर, १९४४।

●

● आ० पंडित जी का यह लेख उनके एक पूर्ण लेख का एक अंश है। सम्पादक मण्डल को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि पूर्ण लेख शीघ्र पुस्तकाकार रूप में दि० जैन परवार सभा, जबलपुर की ओर से प्रकाशित होने वाला है। हमारे ग्रन्थ के लिए व्यक्तिगत रूप से इस लेख को देने के लिए समिति पण्डित जी का आभारी है। ●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org